सामायिक का स्वरूप व उसकी सम्यक् परिपालना

—पं० कन्हैयालाल दक

(जैनधर्म दर्शन के प्रसिद्ध विद्वान, लेखक, अध्यापक)

सामायिक शब्द जैन धर्म का एक विशेष प्रकार का पारिभाषिक शब्द है, जिसका सीधा व संक्षिप्त अर्थ है, समभाव की प्राप्ति होना। अथवा ऐसी एक विशेष प्रकार की आत्मिक साधना, जिससे साधक को समभाव की प्राप्ति हो। लेकिन इतना मात्र ही सामायिक का अर्थ नहीं है, बास्तव में सामायिक एक विशेष प्रकार की अध्यात्म-साधना है, जिससे मानव-जीवन के चरम लक्ष्य 'मोक्ष' की प्राप्ति भी सम्भव है। जैनधर्म ग्रन्थों में सामायिक को श्रावक तथा साधु की एक 'पडिमा' के रूप में स्वीकार किया गया है, और इसके स्वरूप तथा महत्व पर सविशेष प्रकाश डाला गया है, जिसका परिज्ञान होना प्रत्येक सामायिक प्रेमी के लिए अत्यन्त आवश्यक है।

यह सर्वविदित है कि जैन धर्म एक आचार-प्रधान धर्म है। केवल सिद्धान्तों का ज्ञान हो जाना, दर्शन-शास्त्र का प्रकाण्ड पण्डित हो जाना और शास्त्रों का पारगामी विद्वान हो जाना ही जैन धर्म में पर्याप्त नहीं माना गया है, अपितु ज्ञानपक्ष के साथ में क्रिया-पक्ष को भी उतना ही प्रधान माना गया है, क्योंकि जहाँ क्रिया है, वहाँ श्रद्धा है और श्रद्धा के साथ में आचार व सम्यक्दर्शन का घनिष्ठ सम्बन्ध है। कहीं-कहीं तो **'ज्ञानं भारः क्रियां विना'** कहकर क्रियाशून्य ज्ञान को भार तक कह दिया गया है। आचार या क्रिया की प्रधानता बतलाते हुए नीतिशास्त्र में भी विद्वान की व्याख्या करते हुए कहा गया है कि **'यस्तु क्रियावान् पुरुषः स विद्वान्'** अर्थात् ज्ञान होने के साथ-साथ जो व्यक्ति तदनुकूल आचरण करता है वही विद्वान है। आचार्य जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण ने अपने प्रामाणिक ग्रन्थ 'विशेषावश्यक भाष्य' में कहा गया है कि **''नाण किरियाहिं मोक्खो'** अर्थात् ज्ञान-सम्यग्ज्ञान और क्रिया अर्थात् सम्यक्चारित्र के द्वारा मोक्ष की प्राप्ति होती है। यहाँ सम्यक्ज्ञान में सम्यक्दर्शन का भी समावेश हुआ समझ लेना चाहिए।

जैन धर्म के सिद्धान्तानुसार वास्तविक मोक्षमार्ग की भूमिका का प्रारम्भ चतुर्थ गुणस्थान (अविरत सम्यक्दृष्टि) से होता है। सत्य के प्रति दृढ़निष्ठा या लगन का होना सम्यग्दर्शन है। अनादि कालीन अज्ञान-अन्धकार में पड़ा हुआ मानव जब सत्य-सूर्य के दर्शन कर लेता है, तब वह अपने आपको कृतार्थ-सा अनुभव करता है। लेकिन मानव-जीवन के अन्तिम लक्ष्य मोक्ष को प्राप्त करने के लिए सत्य

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

के प्रति अटल विश्वास कर लेना ही पर्याप्त नहीं है, अपने आपको साधनामार्ग में समर्पित कर देना और भौतिक साधनों पर से तथा देह सम्बन्धी ममता का सर्वथा त्यागकर पूर्ण समतामय हो जाना साधक के लिये परमावश्यक होता है और इस स्थिति को प्राप्त कराने में शुद्ध सामायिक का अपना महत्वपूर्ण स्थान है।

जैन धर्म में आत्म-साधक को दो भागों में विभक्त किया गया है—अनगार तथा आगार। इन दोनों के द्वारा की जाने वाली साधना क्रमशः अनगारधर्म तथा आगारधर्म के नाम से प्रसिद्ध है। जो साधक अपने घर-बार, धन-सम्पत्ति, कुटुम्ब-परिवार तथा परिग्रह का सर्वथा त्याग करके, सांसारिक ममता व मोह का त्याग करके समभाव की प्राप्ति के लिए अपने सम्पूर्ण जीवन का उत्सर्ग कर देता है और यावज्जीवन समता दर्शन के लिए सतत् प्रयत्नशील रहता है उसे 'अनगार' कहते हैं और उसकी साधना 'यावत्कथिक-सामायिक' कहलाती है। इसके विपरीत जो साधक घर-बार, धन-सम्पत्ति, कुटुम्ब-परिवार तथा परिग्रह का स्वामी होकर भी अपने गृहस्थी के व्यस्त समय में से समय निकालकर समभाव का निरन्तर अभ्यास करता है, अपनी शक्ति अनुसार एक, दो, तीन सामायिकें करता है, वह आगार या श्रावक कहलाता है और उसकी समभाव की साधना 'इत्वरिक सामायिक' कहलाती है। इत्वरिक सामायिक (एक सामायिक का) काल २ घड़ी अर्थात् ४८ मिनट का होता है।

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि केवल घर-गृहस्थी या परिवार का त्याग करके ही सामायिक नहीं की जा सकती है अपितु गृहस्थाश्रम में रहकर भी कोई भी साधक, अध्यात्म-साधना एवं समभाव का अभ्यास कर सकता है। फिर भी इतना तो निःसन्देह कहा जा सकता है कि 'यावत्कथिक सामायिक' का जीवन में बहुत बड़ा महत्व है और वह मानव-समाज के लिए एक अनुकरणीय आदर्श है। उसका अपना 'त्रैकालिक' महत्व है।

हमारे भिन्न-भिन्न शास्त्रों में सामायिक का जो स्वरूप बतलाया गया है, उसका अवलोकन करने के पश्चात उसकी शुद्धि व सम्यक् परिपालना के सम्बन्ध में विचार करना समीचीन होगा, इस दृष्टि से सर्वप्रथम सामायिक के स्वरूप का विचार कर लें।

आवश्यकनिर्युक्ति में सामायिक का स्वरूप निम्न प्रकार से बतलाया गया है—

जो समो सव्वभूएसु, तसेसु थावरेसु य।
तस्स सामाइयं होई, इह केवलि भासियं॥

अर्थात् जो संसार के त्रस तथा स्थावर सब प्राणियों पर समभाव रखता है उसी की सामायिक सच्ची सामायिक है, ऐसा केवली भगवान का कथन है। इसका तात्पर्य यह है कि सामायिक के साधक को राग, द्वेष, ममता, मोह आदि का शनैः शनैः परित्याग करके आत्मस्थ हो जाना पड़ता है। जिसकी आत्मा यम, नियम, संयम व तप में संलग्न हो जाती है, वही आत्मा शान्ति व एकाग्रचित्त से इस सामायिक व्रत की साधना कर सकता है। अनवस्थित व चंचल चित्त-वृत्ति वाला आत्मा सामायिक व्रत की साधना नहीं कर सकता है।

समस्त व्रतों में सामायिक व्रत ही सर्वश्रेष्ठ है, तथा मोक्ष का प्रधान अंग माना गया है। तात्त्विक दृष्टि से देखा जाये तो पाँचवें गुणस्थान से लेकर बारहवें गुणस्थान के अन्तिम समय तक एक मात्र इस सामायिक व्रत की ही उत्तरोत्तर विकसित व उत्कृष्ट साधना की जाती है।

तेरहवें सयोगी केवली गुणस्थान में आत्मा जब शुद्ध, बुद्ध, निरंजन निराकार व परिपूर्ण अवस्था को प्राप्त कर लेती है, तब उसकी समभाव की साधना भी पूर्ण हो जाती है और वह जीव स्वयं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सामायिकमय हो जाता है, इसीलिये आवश्यकनिर्युक्ति में एक स्थान पर कहा गया है कि—'सामाइय भाव परिणइ भावाओ, जीव एव सामाइयं' अर्थात् आत्मा की समभाव रूप परिणति हो जाने से जीव (आत्मा) ही सामायिक है। सामायिक को चौदह पूर्वों का तथा द्वादशांगी का सार भी कहा गया है। विशेषावश्यक भाष्य की गाथा संख्या २७९६ में कहा गया है कि—"**सामाइयं संखेवो चोद्दस्स पुव्वस्स पिंडोत्ति**" अर्थात सामायिक नामक व्रत चौदह पूर्वों का सारभूत पिण्ड है। तत्वार्थाधिगमभाष्य के स्वोपज्ञ टीकाकार आचार्य उमास्वाति ने सामायिक व्रत की महिमा पर प्रकाश डालते हुए बतलाया है कि मनुष्यता के पूर्ण विकास के लिये सामायिक एक सर्वोच्च साधना है, और द्वादशांगी का सार है।

अन्तकृद्दशांग सूत्र में जहाँ मोक्षगामी आत्माओं के साधना से परिपूर्ण चरित्रों का उल्लेख आता है, वहाँ स्थान-स्थान पर यह उल्लेख पाया जाता है कि "**सामाइयमाइयाइं एक्कारस अंगाइं अहिज्जइ**" अर्थात् प्रत्येक साधक अपने जीवन के साधनाकाल में तपस्या करने के साथ-साथ सामायिक आदि ग्यारह अंगों का अध्ययन करते थे, तभी उनकी साधना पूर्णता को प्राप्त होती थी। यों देखा जाय तो बारह अंगों में सामायिक नाम का कोई अंग है ही नहीं, फिर भी सूत्र पाठ का आशय यह है कि अध्यात्म-साधना का साधक जितने भी अंग या उपांग ग्रन्थों का अध्ययन करता है, उस अध्ययन के अनुरूप ही अपने जीवन को वह समता का साकार स्वरूप प्रदान कर देता है। वह शास्त्रों के साथ समरस हो जाता है, शास्त्राकार हो जाता है। और इसलिये जीव और उसकी सामायिक एक है, अभिन्न है। यह तदाकारता ही यथार्थ सामायिक है।

ऊपर सामायिक की संक्षिप्त व्याख्या करते हुए हमने बतलाया था कि समभाव की प्राप्ति करना ही सामायिक है। परन्तु समभाव की प्राप्ति होना आसान नहीं है। समभाव को प्राप्त करना एक दीर्घकालीन प्रक्रिया है। उसके लिए वर्षों के सतत् अभ्यास की आवश्यकता होती है। रागद्वेष से मुक्त होना, विषय-वासना का परित्याग करना, कर्मबन्ध के मूल कारण चारों कषायों से दूर रहना, ममता और परिग्रह भाव का वर्जन करना और एकान्त स्थान में ध्यानस्थ अवस्था में आत्म-स्वरूप का चिन्तन करना अर्थात् सभी सावद्य कार्यों से दूर रहते हुए निरन्तर आत्म-साधना में तल्लीन रहना ही सामायिक है। जैसा कि कहा गया है—

सावद्य कर्ममुक्तस्य दुर्ध्यानरहितस्य च।
समभावो मुहूर्त्तंस्तत्, व्रतं सामायिकमाहितम्॥

प्रारम्भ में अपनी चित्तवृत्तियों को अशुभ कार्यों की तरफ जाते हुए रोकना चाहिए, लेकिन मन बहुत चंचल है, इसे स्थिर करना अति दुष्कर है। यदि अल्प समय के लिए भी इसे आश्रव मार्ग में जाते हुए रोका जाय तो वह संवर कहलाता है। अभ्यास करते-करते इस 'मनःस्थिरीकरण' की संवर क्रिया को कम से कम ४८ मिनट या दो घड़ी तक बढ़ाते चले जाना चाहिए, तब एक इत्वरिक सामायिक का काल होता है।

यों देखा जाय तो काल एक अखण्ड द्रव्य है, उसे टुकड़ों में विभाजित करके सामायिक के काल का निर्धारण नहीं किया जा सकता है, लेकिन व्यावहारिक दृष्टि से चित्तवृत्ति की स्थिरता के लिए साधक के मनःसन्तोष के लिए पूर्वाचार्यों ने सामायिक का काल एक मुहूर्त्त का निश्चित किया है। इस एक मुहूर्त में भी चित्त की एकाग्रता या स्थिरता का होना अति दुष्कर है तो जीवन भर के लिए मन, वचन तथा काया की प्रवृत्तियों को शान्त, स्थिर व समभाव युक्त बना पाना तो वर्तमान युग में एक कल्पना मात्र है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इत्वरिक सामायिक करने वाला साधक (श्रावक) अन्तरात्मा की साक्षी से संकल्प करता है कि हे प्रभो ! मैं एक मुहूर्त भर के लिए दो करण व तीन योग से सावद्य कार्यों का त्याग करता हूँ और प्राणि-मात्र के साथ समभाव रखते हुए आत्म-साधना के लिए प्रवृत्त होता हूँ। यदि मेरे संकल्प-पूर्ति में किसी प्रकार की त्रुटि हो तो मैं इस व्रत-भंग स्वरूप पाप की स्वयं निन्दा करता हूँ, गुरु साक्षी से गर्हा करता हूँ और पाप से निवृत्त होता हूँ। सामायिक के स्वरूप को समझे, समझाए बिना आज संख्या-पूर्ति की दृष्टि से सामायिकों की स्पर्धा हो रही है, वे केवल बाह्य वेष-भूषा मात्र है।

आचार्य अमितगति ने अपनी 'सामायिक द्वात्रिंशिका' में सामायिक के साधक के लिए एक साधना-सूत्र की तरफ संकेत किया है। वह सूत्र (श्लोक) निम्न प्रकार है—

सत्वेषु मैत्रीं, गुणिषु प्रमोदं, क्लिष्टेषु जीवेषु कृपा परत्वम् ।
माध्यस्थ भावं विपरीत वृत्तौ, सदा ममात्मा विदधातु देव ।।

अर्थात्—हे जिनेश्वर देव ! मैं जब तक सामायिक व्रत में रहूँ, प्राणी मात्र के साथ मेरा मैत्री-भाव बना रहे, गुणीजनों को देखकर आनन्द और उल्लास का भाव जागृत हो, दुःखी प्राणियों को देखते ही मेरे हृदय में कृपा या दया का भाव उत्पन्न हो जाय, मुझसे शत्रुता का भाव रखने वालों के साथ भी मेरा माध्यस्थ भाव बना रहे, कभी द्वेष का भाव हृदय को स्पर्श कर आत्मा को मलीन न बना दे, ऐसी आत्मिक शक्ति मुझे प्रदान करो।

इस प्रकार का आध्यात्मिक चिन्तन तथा अभ्यास प्रत्येक साधक को करना चाहिए, चाहे वह श्रावक हो या साधु। आज स्थिति विपरीत है। सामायिक की गुणवत्ता की तरफ सबका उपेक्षा भाव है, केवल द्रव्य सामायिक की तरफ ही विशेष भार दिया जाता है, जिसमें आसन तथा मुंहपत्ति की प्रधानता है। आत्म-चिन्तन गौण है। सामायिक करने वाला सामायिक में बोले जाने वाले शब्दों या पाठों का न अर्थ जानता है और न अन्य किसी प्रकार का उसका गम्भीर चिन्तन ही है। सामायिक-काल में मौन स्वाध्याय का तो कहीं नामोनिशान भी नहीं है।

श्रावक के १२ व्रतों में सामायिक एक शिक्षाव्रत के रूप में जाना जाता है। इसे शिक्षाव्रत इसलिए कहा गया है कि सामायिक द्वारा प्राप्त किया जाने वाला समभाव अभ्यास द्वारा ही प्राप्त किया जाता हूँ। आचार्य माणिक्यशेखर सूरि ने आवश्यकनिर्युक्ति में 'शिक्षा' शब्द का अर्थ निम्न प्रकार से दिया है :—

"शिक्षा नाम पुनः पुनरभ्यासः"— अर्थात् किसी वस्तु का पुनः-पुनः अभ्यास करना ही शिक्षा है। इस शिक्षा-व्रत में आत्मा को अन्तर्मुखी बनाने का निरन्तर अभ्यास करना होता है। यह अभ्यास कुछ दिनों या महीनों की साधना से नहीं, बल्कि वर्षों की और इससे भी आगे कई जन्मों की सतत-साधना और संस्कारों से फलीभूत हो सकता है। कषायों का समूल उच्छेदन करना दुष्कर कार्य है। बड़े-बड़े ऋषि, महर्षि तथा सन्त-मुनिराज भी राग-द्वेष तथा कषायों से लिप्त हुए पाये जाते हैं। तेरा-मेरा की भावना वहाँ भी ज्यों की त्यों दिखाई देती है। ऐसी स्थिति में तीन करण व तीन योग से साध्वाचार का पालन कर पाना या यावज्जीवन शुद्ध सामयिक व्रत का पालन करना कैसे सम्भव है ? सामायिक के साधक को तो अहर्निश निम्न प्रकार से चिन्तन करना चाहिये—

न सन्ति बाह्या मम केचनार्था, भवामि तेषां न कदाचनाऽहम् ।
इत्थं विनिश्चित्य विमुच्य बाह्यं, स्वस्थः त्वं भव भद्र ! मुक्त्यै ।।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यः स्मर्यते सर्वमुनीन्द्र वृन्दैः, यः स्तूयते सर्वनरामरेन्द्रैः।
यो गीयते वेद पुराण शास्त्रैः, स देवदेवो हृदये ममास्ताम् ॥

अर्थात्—हे आत्मा ! जब तूने सामायिक व्रत को ग्रहण कर लिया है, तब तू इस प्रकार का चिन्तन कर कि संसार के जितने भी पर-पदार्थ हैं, वे मेरे नहीं हैं और न मैं उनका हूँ। इस प्रकार के विचारों से बाह्य-परपदार्थों के साथ के सम्बन्धों का परित्याग करके तू मुक्ति के मार्ग के लिये तैयार हो जा, अर्थात् अपनी आत्मा में स्थिर हो जा। जो वीतराग देव मुनीन्द्र वृन्दों के द्वारा सदा स्मरण किये जाते हैं, मनुष्य तथा देवता भी जिनकी सदा स्तुति करते हैं, वेद, पुराण तथा आगम, शास्त्र जिनकी महिमा का सदा गान करते हैं ऐसे परम विशुद्ध देवाधिदेव मेरे आत्म-मन्दिर में सदा अधिष्ठित हों, जिससे मेरी आत्मा भी उन जैसी पवित्र बन जाय।

इस प्रकार से साधक की आत्मा में सतत भक्ति-पूर्ण निर्मल विचारों का झरना प्रवाहित होते रहने से सामायिक में स्वाभाविक रूप से लगने वाले मानसिक, वाचिक व कायिक दोषों से बचा जा सकता है और द्रव्य से तथा भाव से सामायिक शुद्ध और शुद्धतर बनती चली जाती है। इस प्रकार की निर्दोष सामायिक करने से जीवन में अद्भुत आनन्दानुभूति होती है। वह आनन्द अनिर्वचनीय है, केवल अनुभव-गम्य है।

किसी भी व्रत या नियम को स्वीकार करने के पश्चात् उसका भंग न हो या किसी प्रकार की स्खलना न हो, इस ओर व्रती को सदा सचेष्ट रहना चाहिए या यों कहें कि व्रत का पालन करते समय किसी प्रकार के प्रमाद का सेवन न हो, इस ओर व्रती का सदा लक्ष्य होना चाहिए। अन्यथा सामायिक व्रत की आशातना या अवहेलना होने के साथ-साथ आत्म-वंचना भी होगी। कोई भी व्रत या अध्यात्म साधना किसी को दिखाने, प्रसन्न करने, मान-सम्मान प्राप्त करने, यशः-कीर्ति प्राप्त करने या धन-सम्पत्ति प्राप्त करने की अभिलाषा से नहीं की जाती है, व्रत-पालन करने में व्रतस्थ आत्मा का आत्म-सन्तोष ही प्रधान है, क्योंकि उस व्रत का प्रभाव उस आत्मा को ही अनुभव होगा, अन्य को नहीं। सामायिक व्रत का पालन करते हुए भी मन, वचन तथा काया सम्बन्धी दोषों के लगने की सम्भावना बनी रहती है, अतः उनका सावधानीपूर्वक वर्जन हो, आत्मा के परिणाम शुद्ध व निर्मल बने रहें, इस ओर सदा सचेष्ट रहना चाहिए। 'मैं सामायिक व्रत में हूँ,' इस बात की स्मृति साधक को निरन्तर बनाये रखनी चाहिए जिससे दुर्विचार, दुर्ध्यान और मन की चंचलता अपने आप समाप्त हो जाय। सामायिक के निर्धारित काल का भी अवश्य ध्यान रखना चाहिए, जिससे व्रती अपने आप यह निश्चय कर सके कि मैंने अपने चंचल मन को किस सीमा तक वश में कर लिया है। इसी प्रकार से साधना के क्षेत्र में मैं कितना और बढ़ सकता हूँ ?

सामायिक में करने लायक आवश्यक क्रियाओं को मैंने किया है या नहीं ? चतुर्विंशतिस्तव किया है या नहीं ? भगवदाज्ञा की सम्यक् प्रकार से आराधना की है या नहीं ? इन बातों का भी चिन्तन सामायिक में किया जाना चाहिए और भविष्य में ऐसा विशुद्ध चिन्तन करने के लिए संकल्पबद्ध होना चाहिए। जैसा कि ऊपर कहा गया है, सामायिक के ३२ दोषों में से किसी का भी सेवन न हो, चार प्रकार की विकथाओं में से किसी का सेवन न किया जाय, चार प्रकार की संज्ञाओं (इच्छाओं) में से किसी संज्ञा का मानसिक स्पर्श न हो और व्रत-भंग करने के जो चार प्रकार हैं (अतिक्रम, व्यतिक्रम, अतिचार और अनाचार) उनमें से किसी का भी ज्ञात या अज्ञात अवस्था में सेवन न किया जाये तभी सामायिक की सम्यक् परिपालना हुई है, ऐसा कहा जा सकता है। ○

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org